खण्ड 1

मार्जरी साइक्स
शिक्षा – सादगी, सौंदर्य और समानता के लिए

अनिल सेठी

सार

मार्जरी साइक्स (1905-1995) ने कई वर्षों तक महात्मा गाँधी और रविन्द्र नाथ ठाकुर के साथ एक अध्यापिका की हैसियत से काम किया। उन्होंने इन दोनों के शिक्षा संबंधी विचारों का सफलतापूर्वक समावेश किया। साइक्स जन्म से ब्रिटिश थीं। 1928 ई. में वे भारत आईं, 1990 के दशक तक यहाँ रहीं और उन्होंने सेवाग्राम और शान्तिनिकेतन समेत कई जगहों पर पढ़ाया। अपने मार्गदर्शकों की तरह साइक्स 'स्कूली पढ़ाई' और 'शिक्षा' में स्पष्ट अंतर करती थीं। वे यह भी मानती थीं कि किसी भी बुद्धिमान अध्यापक को यह जानना चाहिए कि कब बच्चों को अपनी मनमानी करने के लिए अलग छोड़ दिया जाए और कब अध्यापक पीछे हट जाए ताकि उनकी गतिविधि में दखल दिए बिना उन्हें समझ सके। साइक्स के शैक्षिक विचार, चिंतन और काम की कई धाराओं से निकले पर अंततः उनकी चेष्टा थी–सादगी, सौंदर्य और समानता की ओर ले जाने वाली शिक्षा का प्रवर्तन।

मार्जरी साइक्स (1905-1995) उन विदेशियों में से थीं जिन्होंने भारतीयता को अपनाना तय किया था क्योंकि भारत उन्हें असाधारण रूप से लुभाता था। इस सम्मोहन का अनुभव उन्हें पहले पहल हमारे स्वतंत्रता संग्राम के कुछ शिखर व्यक्तित्वों के जीवन और कृतित्व के माध्यम से हुआ। साइक्स जन्म से ब्रिटिश

---

* अनिल सेठी, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली में इतिहास के प्रोफ़ेसर हैं।

थीं। वे चेन्नई के बेंटिक गर्ल्स हाईस्कूल में पढ़ाने के लिए 1928 के शरद में भारत आई। 1990 के दशक तक वे यहीं रहीं और इस दौरान वे गाँधीजी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और सी.एफ.ऐण्ड्रयूज़ जैसे व्यक्तित्वों तथा विभिन्न ईसाई परंपराओं – विशेषकर क्वेकर[1] परंपरा से प्रेरित अनेक तरह के विचारों, गतिविधियों और परियोजनाओं में लीन रहीं।

वृद्धावस्था में भी साइक्स सक्रिय और प्रभावी थीं। उन्होंने अपने जीवन का चित्रांकन एक विराट फलक पर किया। आध्यात्मिकता, सादगी, प्रकृति से जुड़ाव, पैदल सैर, पर्वतारोहण, दस्तकारी, भाषाएँ, नाटक, दर्शनशास्त्र, लेखन, ग्राम सुधार, शांति आंदोलन, राजनय तथा समझौता वार्ता, क्वेकर गतिविधियाँ, अपने मार्गदर्शकों के विचार--- दिन रात वे इन्हीं सब में रमी रहती थीं। इन सभी से वे कुछ न कुछ सीखने और लोगों को भी इनके बारे में जानकारी देने की कोशिश करती थीं। इसलिए उनके शिक्षा संबंधी विचारों ने इनमें से अनेक अभिरुचियों से बहुत कुछ ग्रहण किया है, पर अंततः उनकी चेष्टा थी -सादगी, सौंदर्य और समानता की ओर ले जाने वाली शिक्षा का प्रवर्तन।

उनका जन्म यार्कशायर के एक कम साधन संपन्न परिवार में हुआ था। उनके पिता कोयला खानों के इलाके के गरीब देहाती स्कूलों में हेडमास्टरी करते थे। मार्जरी तथा उनके दो भाई-बहनों का पालन-पोषण अपेक्षाकृत गरीबी की स्थिति में हुआ था मगर साथ ही उन्हें मितव्ययिता, स्वच्छता और धर्मपरायणता के संस्कार भी मिले थे। उनकी स्कूली शिक्षा हडर्सफ़ील्ड इलाके के स्थानीय स्कूलों में हुई थी पर कॉलेज स्तर पर अंग्रेज़ी के अध्ययन के लिए उन्हें छात्रवृत्ति मिली और वे केम्ब्रिज के न्यून्हम कॉलेज में दाखिला ले सकीं। कॉलेज की पढ़ाई के दौरान वे अक्सर अपने पिता के साथ उनकी परियोजनाओं पर काम किया करती थीं। उनके पिता मशीनों के व्यावहारिक मॉडलों के डिज़ाइन बनाने की कोशिश करते थे जो इतने आसान हों कि स्कूलों के बच्चे उन्हें खुद बना और चला सकें और जिनके ज़रिए वे दैनिक जीवन में काम आने वाली मशीनों के

1. क्वेकर–यह मत ईसाई धर्म में से उभरा एक आंदोलन है जिसमें शांति के सिद्धांतों पर बल रहता है। क्वेकर लोग औपचारिक सिद्धांतों, धर्म संस्कारों तथा दीक्षित पादरियों की परंपरा का पालन नहीं करते और उनकी आस्था स्वानुभव की आंतरिक सत्ता में होती है। क्वेकर लोग आध्यात्मिक समानता पर बल देते थे, इसलिए सामाजिक न्याय के प्रति वे संवेदनशील होते थे। भारत की राष्ट्रीय भावना के प्रति उन्हें सहानुभूति थी और उनमें अनेक जन महात्मा गाँधी के विश्वस्त मित्र थे। साइक्स इस आंदोलन तथा भारत में इसके कार्यों से इतनी प्रभावित थीं कि उन्होंने इन पर एक किताब भी लिखी - *क्वेकर्स इन इंडिया : अ फॉरगॉटन सेंचुरी* (लंदन 1980)।

बारे में भी जानकारी हासिल कर सकें। वे बच्चों के लिए विनोद भाव, सुंदरता या रहस्य भाव के आधार पर चुनी हुई कविताओं की पुस्तिकाएँ निकाला करते थे। वे इतिहास का पुनर्कथन इस तरीके से करते थे जो पाठकों की मानवीय सहानुभूति को जाग्रत करे। इन सब कामों में वे मार्जरी को भी शामिल करते थे जो बड़े उत्साह से हाथ से बनी किताबों की सिलाई किया करती थीं। उन्हें यह काम कभी नीरस बोझ-सा नहीं लगा[2]।

साइक्स ने केंब्रिज में अंग्रेज़ी का ट्राइपॉस (ऑनर्स डिग्री) प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया। इसके लिए उन्होंने विलियम ब्लेक पर एक लघु शोध प्रबंध लिखा था। वे आसानी से अंग्रेज़ी विषय में अपनी उच्चतर शिक्षा जारी रख सकती थीं, लेकिन अपने पिता के कार्यों के प्रति आकर्षण के कारण उन्होंने स्कूलों में अध्यापन को चुना। उन्होंने अध्यापन का प्रशिक्षण लेते हुए केंब्रिज में एक वर्ष और बिताया जिसके समापन पर उन्होंने अफ़्रीका और एशिया में शिक्षण के अवसरों की तलाश शुरू की। जब उन्हें मद्रास में लंदन मिशनरी सोसाइटी द्वारा संचालित बेंटिक हाईस्कूल में काम करने का प्रस्ताव मिला तो उन्होंने सहर्ष उसे स्वीकार कर लिया।

बेंटिक स्कूल में साइक्स को अपने पालन-पोषण के तरीके और पूर्व प्रशिक्षण का अच्छा लाभ मिला। अपने माता-पिता को देखकर वे समझ चुकी थीं कि बच्चों को अन्वेषण और उपलब्धि से, मौज-मस्ती और साहसिक कार्यों से, कल्पना और करुणा से किस प्रकार उत्साहपूर्ण प्रेरणा मिलती है। उनके पिता कभी भी व्यक्तियों, सामाजिक समूहों और राष्ट्रों को किसी रूढ़िवादी रूपरेखा में रखकर नहीं देखते-दिखाते थे। उन्होंने बेटी को यह भी सिखाया था कि 'अपना कर्तव्य निजी आकांक्षाओं से प्रभावित हुए बिना निभाना चाहिए ... केवल एक ही बात मायने रखती है ..... निःस्वार्थी होकर सीखना[3]। आगे चलकर भारत में मार्जरी को 'निष्काम कर्म' की अवधारणा के रूप में इस बारे में और सीखना था। इसके अतिरिक्त केंब्रिज में उनके अध्यापकों ने उन्हें अंतर्राष्ट्रीय शांति और सामाजिक न्याय के क्षेत्र में किसी न किसी रूप में

2. साइक्स के जीवन और कृतित्व के बारे में ब्यौरे या तो स्वयं उनके लेखन से लिए गए हैं, या मार्था डार्ट की *मार्जरी साइक्स-क्वेकर गाँधियन* (लंदन, तिथि अज्ञात) से। डार्ट की पुस्तक ही शायद मार्जरी साइक्स की एकमात्र जीवनी है। मैंने इसके इलेक्ट्रॉनिक संस्करण का इस्तेमाल किया है। www.arvindguptatoys.com पर 'बुक्स ऑन एजुकेशन' लिंक के ज़रिए यह पुस्तक उपलब्ध है। अरविंद गुप्ता प्रसिद्ध विज्ञान शिक्षाविद हैं। वे बच्चों के लिए शैक्षिक खिलौने भी बनाते हैं।

3. मार्था डार्ट, मार्जरी साइक्स, क्वेकर गाँधियन, पृ.8

योगदान करने की प्रेरणा दी थी। उनमें से बहुत से लोग इसे ईसा मसीह का संदेश मानते थे जिसे युवा दिमागों तक पहुँचाना था, और वह ऐसी शिक्षा के ज़रिए जो उन्हें 'विश्व के स्तर पर सोचना लेकिन स्थानीय स्तर पर काम करना' सिखाए। जो भी हो, नौ वर्ष की कच्ची उम्र में भी मार्जरी को युद्ध से नफ़रत थी। यह बात उन्हें हमेशा-हमेशा याद रहती थी कि जब प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हुआ तो किस प्रकार 'माहौल में महाविनाश का गहन आभास छाया रहता था', और यह कि युद्धजनित वैर ने कैसे एक प्रिय जर्मन शिक्षिका को अचानक ही 'विदेशी शत्रु' में बदल दिया था।[4]

सन् 1928 में बेंटिक एक अपेक्षाकृत छोटा स्कूल (किंडरगार्टन से अंतिम कक्षा तक जिसमें 350 से भी कम बच्चे थे) और घनिष्ठ रिश्तों में बँधा समूह था। इसमें एक छात्रावास भी था हालाँकि सारे छात्र इसमें नहीं रहते थे। सभी अध्यापक और छात्र एक दूसरे को पहचानते थे 'और एक बड़े परिवार की तरह एक दूसरे का ख्याल रखते थे'। चेन्नई की जलवायु को देखते हुए स्कूल में कम से कम फ़र्नीचर रखा जाता था और इसके सदस्य कभी-कभार ही चप्पल पहनते थे। वे नंगे पैर चलते-फिरते और फ़र्श पर बिछी चटाइयों पर सोते थे। छात्रावास में हर बच्चे के कपड़े और निजी वस्तुएँ एक छोटे से बक्स में ही समा जाती थीं। अलग-अलग धर्म और जातियों के बच्चों को बराबरी के दर्जे पर दाखिला दिया जाता था और छात्रावास के संवासियों की जाति कुछ भी हो, वे सभी एक ही रसोई में बना हुआ एक ही खाना खाते थे। ऐसा भी होता ही रहता था कि ब्राह्मण छात्र 'नीची जात' के लोगों की जूठी पतलें उठाते थे या उनके जूठे बर्तन माँजते थे।

प्रिंसिपल की हैसियत से मार्जरी साइक्स ने प्रतियोगिताओं और पुरस्कारों तथा 'उनसे भड़कने वाली स्वकेंद्रित प्रतिद्वंद्विता'[5] पर रोक लगा दी। उन्होंने सहयोग के मूल्यों पर बल दिया और इस तरह की व्यवस्था स्थापित की जिसमें तेज़ छात्रों को पढ़ाई में मंदबुद्धि छात्रों की मदद करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था - 'वयस्कों की तुलना में वे इसे कहीं अधिक प्रभावी ढंग से करते थे।'[6] शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रमों की योजना कुछ एक सितारों को श्रेष्ठ प्रदर्शन करके पुरस्कार जीतने की खातिर प्रशिक्षित करने के लिए नहीं 'बल्कि हर बच्चे के स्वास्थ्य तथा कौशल में सुधार लाने के लिए'[7] बनाई जाती थी।

---

4. वही, पृ. 9
5. जहाँगीर पी.पटेल तथा मार्जरी साइक्स, *गाँधी : हिज़ गिफ्ट ऑफ़ द फ़ाइट* (गोवा 1987) पृ. 43।
6. वही।

बेंटिक तथा साइक्स 'पाठ्य विषय' तथा 'पाठ्येत्तर गतिविधियों में कोई अंतर नहीं करते थे, जो अंतर बहुत-से भारतीय स्कूल हमेशा से रखते आए हैं। (सन् 2005 के राष्ट्रीय पाठ्यक्रम के ढाँचे का उद्देश्य इस अंतर को समाप्त करना है।) उदाहरण के लिए उस स्कूल में अंग्रेज़ी और संगीत साथ-साथ पढ़ाए जाते थे। झाड़ू लगाना, इमारत की सफ़ाई, बागबानी आदि का उतना ही महत्त्व था जितना लिखना, पढ़ना, गणित आदि सीखने का। सफ़ाई, बागबानी आदि को शिक्षा की केंद्रीय चिंता माना जाता था। यह बात साइक्स ने जितनी स्वयं अपनी शिक्षा-दीक्षा से सीखी थी, उतनी ही गाँधी तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर से।

इस सोच को केवल बेंटिक ही नहीं बल्कि हर उस जगह लागू किया गया जहाँ-जहाँ उन्होंने पढ़ाया था। गाँधीजी ने 1937 में जब अपने शिक्षा संबंधी कार्यक्रम की प्रथम सार्वजनिक घोषणा की थी, तब इसी सोच के कारण उसे लेकर मार्जरी इतनी उत्साहित हो उठी थीं। गाँधीजी की नयी तालीम के रूप में समर्पित और कार्यान्वित इन विचारों का अन्यत्र विस्तृत विश्लेषण किया गया है।[8] यहाँ इतना ही कह देना काफ़ी है कि गाँधीजी शिक्षा कार्य में दैनिक जीवन तथा कार्यों के संसाधानों के इस्तेमाल के आग्रही थे। शिक्षा का लक्ष्य जीवन को समझना और जिस रूप में वह सामने आए, उसी रूप में उसका सामना करना है। लेकिन शिक्षाभ्यास को भी स्वयं जीवन के अंदर से होकर ही संरचित भी किया जाना था। इस गाँधीवादी प्रतिमान का आशय था कि शिक्षार्थी स्वयं अपने अस्तित्व की स्थितियों और अपने समाज से सक्रिय रूप से जुड़ा रहे ताकि वह अतिश्रम और शोषण से अपनी मुक्ति की राह तलाश सके। जैसाकि गाँधीजी ज़ोर देकर कहते थे, 'शिक्षा ही सच्ची आज़ादी देती है'[9] लेकिन यह तभी संभव है जब यह 'बच्चों या बड़ों के देह, मन और आत्मा में जो भी सर्वश्रेष्ठ है उसे समग्र रूप से बाहर ला सके'[10]। 31 जुलाई 1937 के *हरिजन* में गाँधीजी ने इस विषय

---

7. वही, पृ. 44।
8. उदाहरण के लिए दे. मार्जरी साइक्स, द *स्टोरी ऑफ नई तालीम–फिफ्टी इयर्स ऑफ एजुकेशन एट सेवाग्राम; 1937-1987* (सेवाग्राम, 1987); कृष्ण कुमार, 'लिसनिंग टु गाँधी'- रजनी कुमार, अनिल सेठी और शालिनी सिक्का (संपादक), *स्कूल, सोसाइटी, नेशन –पॉपुलर एसेज़ इन एजुकेशन* (दिल्ली, 2005) में संकलित; जी. रामानाथन, एजुकेशन फ्रॉम ड्यूई टु गाँधी – द *थ्योरी ऑफ बेसिक एजुकेशन* (मुंबई, 1962) ; सीतारमैया, *बेसिक एजुकेशन – द नीड ऑफ टुडे* (वर्धा, 1952) ; और अनिल सेठी, 'एजुकेशन फॉर लाइफ़, थ्रू लाइफ़ – अ गाँधियन पैराडाइम', क्रिस्टोफ़र विंच के *फर्स्ट महात्मा गाँधी मेमोरियल लेक्चर* (नयी दिल्ली 2007) में।
9. जे.डी.सेठी द्वारा *गाँधी टुडे* (दिल्ली 1978) में प्रकाशित लेख 'अ गाँधियन क्रिटिक ऑफ मॉडर्न इंडियन एजुकेशन इन रिलेशन टु इकॉनॉमिक डेवलपमेंट' में उद्धृत, पृ. 126
10. *हरिजन*, 31 जुलाई 1937

में जो एक छोटा-सा अनुच्छेद प्रकाशित किया था उसने साइक्स को अंदर तक झकझोर दिया – 'उन गिने-चुने वाक्यों ने मेरे दिमाग से बाकी सब कुछ निकाल फेंका। मैं उद्दीप्त हो उठी। मैं उन्हें बार-बार पढ़ती रही और मुझे अब भी स्पष्ट रूप से शब्दशः याद है कि मेरे दिमाग में कौन-सी बात आई थी – ''आखिर अब ऐसा कोई है जो शिक्षा के बारे में सचमुच समझदारी से कुछ कह रहा है।'' मैं उत्सुकता से *हरिजन* के आगामी अंकों की प्रतीक्षा करने लगी और गाँधीजी के प्रस्ताव से जो विवाद उठे थे उनका अध्ययन करती रही।'[11]

सन् 1939 में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मार्जरी साइक्स को 'अंग्रेज़ी संस्कृति की प्रतिनिधि'[12] के रूप में शांतिनिकेतन में पढ़ाने को बुलाया। यह एक दुर्लभ अवसर था। इससे साइक्स को न केवल रवीन्द्रनाथ के शिक्षा तथा सामुदायिक सहजीवन के प्रयोगों को निकट से देखने का अवसर मिला, बल्कि वे इस बात का भी अध्ययन कर सकीं कि गाँधीवादी पद्धति से उसका कहाँ मेल है। रवीन्द्रनाथ तथा गाँधी के बीच अनेक संपर्क सूत्र थे और गाँव और शांतिनिकेतन के बीच आवागमन बना रहता था। साइक्स को तमिल तथा हिंदी का तो अच्छा ज्ञान था ही, अब उन्होंने शीघ्र ही बांग्ला भी सीख ली और बड़ी सहजता से शांतिनिकेतन के सांस्कृतिक तथा बौद्धिक जीवन में शामिल हो गई जिसमें थे - फूल और भित्तिचित्र, वस्त्र बुनाई और काष्ठशिल्प, कविता और संगीत, नृत्य और नाटक तथा धार्मिक संवाद की स्वतंत्रता। छात्राओं तथा ईसाई विद्यार्थियों के लिए उनका घर विशेष आकर्षण का केंद्र सिद्ध हुआ। ईसाई विद्यार्थी धार्मिक उलझनों पर विचार विमर्श के लिए या क्वेकर पत्रिका द फ्रेंड पढ़ने के लिए आया करते थे तो छात्राएँ एक अधिक जानकार तथा अनुभवी, पर साथ ही अत्यंत सुहृद महिला से व्यक्तिगत सलाह तथा प्रेरणा लेने आती थीं। बांग्ला भाषा पर साइक्स का क्रमशः इतना अधिकार हो गया था कि कवि ने उनसे अपनी कुछ रचनाओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद करने का आग्रह तक किया।

बेंटिक तथा शांतिनिकेतन के अतिरिक्त मार्जरी साइक्स ने चेन्नई के वीमॅन्स क्रिश्चियन कॉलेज, सेवाग्राम तथा कई अन्य संस्थानों में भी अध्यापन किया था। उनके कार्य, उनकी लिखी पुस्तकों तथा उनके बारे में इधर-उधर बिखरे लेखन

---

11. मार्था डार्ट, *मार्जरी साइक्स – क्वेकर गाँधियन*, पृ. 22
12. मार्था डार्ट, 'मार्जरी साइक्स – 1905-1995' जहाँगीर पी.पटेल तथा मार्जरी साइक्स, *गाँधी – हिज़ गिफ्ट ऑफ़ द फ़ाइट* (गोआ 1987) पृ. 211

से स्पष्ट समझ में आता है कि वे रवीन्द्रनाथ तथा गाँधी की विश्वदृष्टियों को समझना तथा संश्लेशित करना चाहती थीं, विशेषकर उनके शिक्षा संबंधी परिप्रेक्ष्य को। उन्हें यह आंतरिक उत्साह तथा आविष्कार की यात्रा लगती थी। चूँकि यह यात्रा साइक्स की शिक्षा संबंधी दृष्टि को भी उजागर करती है इसलिए इससे फिर एक बार गुज़रना श्रेयस्कर ही होगा।

साइक्स को 'वर्तमान के महातम पुरुषों में से इन दो'[13] के विचारों में कई अंतर दिखाई दिए, पर साथ ही कई समानताएँ भी दिखाई दीं जो आमतौर पर जीवनीकारों और इतिहासकारों की नज़र में नहीं आतीं। साइक्स के अनुसार इन दोनों की पृष्ठभूमि, मिजाज़ और उन बिंदुओं में अंतर था जिन पर वे बल देते थे। किंतु इनकी मनोवृत्ति और उद्देश्य में साम्य था। रवीन्द्रनाथ कृष्ण थे - कलाकार, सौंदर्य में निमग्न, जबकि गाँधीजी राम थे - योद्धा, ज़रूरतमंदों की सहायता को उजागर करना फिर भी दोनों में एक-दूसरे का भी कोई तत्व था।

साइक्स का तर्क था कि दोनों ही अपने-अपने तरीके से समान लक्ष्यों के लिए काम कर रहे थे – आत्मनिर्भरता की गरिमा और उत्तरदायित्वपूर्ण स्वतंत्रता का आचरण। दोनों का महास्वप्न एक-सा ही था – मुक्त, निर्भय तथा पुनरुजीवित मानवता। उपनिषद्‌ों की परंपरा में वे बाह्य उपलब्धियों को तब तक निरर्थक मानते थे जब तक कि वे आंतरिक स्वाधीनता और आनंद की उपलब्धि में मानव की, स्थानीय समुदायों की, और संपूर्ण समाज की सहायता न करें। वे प्रायः *ईशोपनिषद्* की एक ऋचा पर लौटा करते थे जिससे साइक्स भी बहुत प्रभावित थीं –

यह संपूर्ण विश्व परिधान है ईश्वर का
त्यागकर इसका भोग करो
पुनः ग्रहण करो ईश्वर के वरदान के रूप में।[14]

गाँधी और रवीन्द्रनाथ भोग और त्याग में द्वंद्व का संबंध मानते थे। प्रकाश और अंधकार की भाँति वे विरोधी पूरक थे जो एक-दूसरे को अर्थ देते थे। इन दोनों ही पुरुषों के जीवन का सिद्धांत वाक्य था 'त्यागकर भोग करो'[15]। यह संसार छोड़कर हिमालय की गुफ़ाओं में जा बसनेवाला त्याग नहीं था। इसके विपरीत

---

13. मार्था डार्ट, *मार्जरी साइक्स – क्वेकर गाँधियन*, पृ. 23
14. जहाँगीर पी.पटेल तथा मार्जरी साइक्स, *गाँधी – हिज़ गिफ्ट ऑफ़ द फ़ाइट* (गोआ 1987) पृ. 62
15. वही, पृ. 63

इसका अर्थ था, 'मानव व्यापारों में एक अनासक्त और विलक्षण लिप्तता' [16] और इस कारण ये दोनों अपने कार्य और कला के माध्यम से समाज में लिप्त रहे, संस्थाएँ और आंदोलन संचालित किए और इन्होंने संवाद, वाद-विवाद तथा विचार-विमर्श आरंभ किए।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा गाँधीजी के शिक्षा संबंधी लक्ष्य और उनकी पद्धतियाँ इस विश्वदृष्टि से गहरे में अनुप्राणित थीं। वे बच्चों से प्यार करते थे और स्वयं 'चिर शिशु' थे। वे एक समग्र, समन्वित, बहुआयामी शिक्षा का स्वप्न देखते थे जिसमें हर बच्चे की वैयक्तिकता तथा प्रतिभा को पहचाना जाए और शिक्षा के एक मुक्त, आनंदमय वातावरण में उसे इस वैयक्तिकता तथा प्रतिभा को पूर्ण अभिव्यक्ति देने का अवसर मिले। उनका दृढ़ मत था कि शिक्षा को अत्याचार तथा अस्वाधीनता दूर करने में सहायक होना चाहिए। इसे हमें इतना समर्थ बनाना चाहिए कि हम सत्ता की केंद्रिकता तथा शोषण का प्रतिरोध कर सकें। इस काम को खेल की तरह लेना चाहिए और इसका ध्यान रचनात्मक कार्य पर केंद्रित होना चाहिए। इसे दैनिक जीवन के तत्वों तथा कार्यों का शिक्षण के संसाधनों के रूप में इस्तेमाल करना चाहिए। इस प्रकार कपास की खेती या बाउल संगीत शिक्षण-अधिगम की अनेक गतिविधियों के केंद्र बन सकते हैं - वह विज्ञान के क्षेत्र में हो, या भूगोल, इतिहास और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में, या कला, शिल्प या साहित्य के क्षेत्र में। शिक्षा को जहाँ वृहत्तर विश्व में प्रवेश की अनेक राहें खोलनी चाहिए, वहीं इसकी जड़ें स्थानीय आवश्यकताओं और संस्कृति में होनी चाहिए और कम से कम हाईस्कूल तक इसका माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए। इस प्रकार साइक्स की दृष्टि में मूल तत्वों की दृष्टि से गाँव तथा शांतिनिकेतन उतने दूर नहीं थे जितना उन्हें समझा जाता है।

स्कूल और कॉलेज में सक्रिय अध्यापक के रूप में साइक्स इन विचारों को जीती रहीं। शांतिनिकेतन, सेवाग्राम तथा भारत के अन्य भी कई भिन्न-भिन्न इलाकों में इन्हें लागू करके वे इन्हें लगातार धार देती रहीं। अपने मार्गदर्शकों की ही तरह वे भी 'शिक्षा' तथा 'स्कूली पढ़ाई' में स्पष्ट अंतर करती थीं। वे इन दो शब्दों के आशय में इतना अंतर करती थीं मानो 'शिक्षा' का अर्थ दरअसल 'स्कूल से दूर जाना' किया जा सकता हो। साइक्स समझाती हैं कि शिक्षा (education) का शाब्दिक अर्थ ही 'बाहर ले चलना' है –

16. वही, पृ. 64

मेरे मन में चित्र उभरता है कि कोई किसी बच्चे के हाथ को हौले से थामकर बच्चे के अपने प्राकृतिक मनोवेगों से सहयोग करता हुआ नये विकास और नए उद्यम को प्रोत्साहित करते हुए उसके साथ-साथ उसी की स्वाभाविक रफ़्तार में चल रहा है। पर इसके विपरीत हम 'स्कूली पढ़ाई' शब्द का प्रयोग कुछ इस आशय में करते हैं मानो किसी का ऐसे काम के लिए अनुकूलन किया जा रहा हो जो वह स्वभावत: नहीं करता – उदाहरण के लिए बैले नृत्य की कुछ भंगिमाएँ और गतियाँ। मेरा यह दावा नहीं है कि शिक्षा और स्कूली पढ़ाई परस्पर विरोधी हैं (मैं यह नहीं कह रही हूँ कि दोनों साथ नहीं चल सकते। पर यह मैं कह रही हूँ वे भिन्न हैं और हम लोगों को इस भिन्नता को पहचानना चाहिए।[17]

साइक्स का दृढ़ विश्वास था कि अध्यापकों की पहली चिंता शिक्षा होनी चाहिए, स्कूली पढ़ाई नहीं। उन्होंने अध्यापक की तुलना माली (किंडरगार्टन का अर्थ ही है बच्चों की बगिया) या नर्स (स्कूल नर्सरियाँ/पौधशालाएँ ही तो हैं।) से की है जिनकी ज़िम्मेदारी बच्चों के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना है। जिस प्रकार कोई कुशल माली अपने पौधों की या समझदार नर्स अपने रोगियों की देखभाल करते हैं उसी प्रकार बुद्धिमान अध्यापक को भी जानना चाहिए कि कब बच्चों को स्वयं उनके साथ छोड़ दिया जाए ताकि वे अपने विकास को जारी रख सकें, 'अपना मनभाता कर सकें' और अध्यापक पीछे हटकर केवल उन पर नज़र रखते रहें, 'उन्हें समझने के ख़्याल से, दखल देने के लिए नहीं'।[18] मगर जहाँ बच्चों को उनके काम में सहज सुविधा देने के लिए अध्यापकों को पीछे हट जाना चाहिए, वहीं उन्हें प्रश्न करने की आदत को सँवारने में विद्यार्थियों की मदद भी करनी चाहिए। मानवों में यह आदत तो प्रकृति से ही आती है। अध्यापकों को स्वयं में भी जिज्ञासा का उत्साह जगाना चाहिए। बच्चों को समस्याएँ उठाने और समाधान ढूँढ़ने में मज़ा आता है और अध्यापकों को यह बात उनसे सीखनी चाहिए।

शिक्षक के तौर पर हम क्या बच्चों के सहज प्रश्नों का स्वागत करते हैं? अपने जीवन और कृतित्व के माध्यम से मार्जरी साइक्स ने इस बात पर फिर से बल दिया कि शिक्षा का अर्थ है, 'जो चीज़ें हमारे सामान्य स्वीकृत पैटर्न में नहीं

17. कृष्ण कुमार (संपा.) *डेमोक्रेसी एंड एजुकेशन इन इंडिया* (नयी दिल्ली 1993), पृ. 24 में मार्जरी साइक्स का बीज भाषण
18. वही, पृ. 25

बैठतीं'[19] उनके बारे में प्रश्न, समस्याएँ और संदेह उठाए जाएँ। शिक्षा बेजान तथ्यों का ढेर भर नहीं है; बल्कि हमें इसे 'चुनौती भरे प्रश्नों की शृंखला के प्रतिसाद'[20] के रूप में देखना चाहिए। अन्वेषण, बच्चों, लोगों, अनासक्त समाजलिप्तता, सौंदर्य आदि के प्रति उनके प्रेम ने और सबसे बढ़कर समानुभूति और मैत्री के उनके गुणों ने उन्हें देश के सर्वश्रेष्ठ शिक्षकों में स्थान दिलाया था। इसलिए शिक्षा संबंधी किसी भी चिंतन में उनका नाम हमेशा अनायास ही आ जाता है।

(अनु. कुसुम बाँठिया)

19. वही, पृ. 27
20. वही, पृ. 27

खण्ड 2

साहित्य क्यों?

अशोक वाजपेयी

सार

हमारा समय बेहद हिंसक है—संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट के अनुसार इस समय दुनिया में सौ के लगभग युद्ध, बगावत, सैन्य विद्रोह आदि चल रहे हैं। प्रायः सभी धर्म आक्रामक और हिंसक हो रहे हैं – वे दूसरों की क्या अपनी ही बहुलता के प्रति असहिष्णु हो गए हैं। बाज़ार की हिंसा है, आतंक या उग्रवाद की हिंसा है। राजनीति और आर्थिकी भी आक्रामक मुद्राएँ अपना रही हैं। बाज़ार पर एकाग्र आर्थिकी कई प्रकार की तानाशाही को, उपभोक्तावाद और लोभ की तानाशाही, एकरूपता की तानाशाही को पोस रही है। एक ऐसी व्यवस्था का एकाधिकार जिसमें दुनिया विचारों से नहीं चीज़ों से बदल रही है। मनुष्य के दो महान आविष्कार 'व्यक्ति' और 'समाज' लोप के कगार पर हैं।

हमारे युग में राज्य, राजनीति और आर्थिकी के उच्चतम स्तरों पर झूठ बोला जा रहा है। सच की प्रकृति और स्थिति हमारे समय में समयबद्ध है और वह अत्यंत द्विधाग्रस्त हो गई है। सच का पालन एक शिथिल पड़ती आदत है और निजी तथा सार्वजनिक में ऐसे प्रलोभन बढ़ गए हैं जो सच के साथ से विरत करते हैं। एकान्त के लिए, स्वप्न के लिए, कल्पना के लिए अवकाश सिकुड़ रहा है। अधिकाधिक लोग अपनी मातृ-भाषाओं से वंचित हो रहे हैं तथा अपनी जातीय स्मृतियाँ और सांस्कृतिक जड़ें खो रहे हैं। व्याख्यान इस जटिल संदर्भ में साहित्य की ज़रूरत पर विचार करेगा।

यह तो मानना ही पड़ेगा कि ऐसे बहुत सारे लोग हैं और हमारे समाज में बहुसंख्यक होंगे जिनका काम और जीवन साहित्य के बिना बखूबी चल जाता है और इस कारण उन्हें कोई हानि होती है ऐसा कोई अहसास उन्हें नहीं होता।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनके जीने में कोई सघनता और सार्थकता नहीं होती। कम-से-कम हिंदी समाज में साहित्य के अध्यापन की जो हालत है उसके रहते एक बड़ी विडम्बना यह है कि जो लोग एम.ए. स्तर तक साहित्य पढ़ते हैं इनमें से अध्किांश अपना अध्ययन समाप्त होने के बाद साहित्य से संबंध तोड़ लेते हैं और उनकी साहित्य में आगे कोई रुचि नहीं रह जाती। अगर ऐसा न होता तो हिंदी साहित्य कम से कम अतिरिक्त पाँच हजार पाठक या रसिक हर वर्ष उच्च स्तर के पा सकता था। इसलिए कुल मिला कर हमारे यहाँ साहित्य एक अल्पसंख्यक मामला है।

पर इससे पहले कि हम साहित्य के औचित्य पर कुछ विचार करें यह समझना ज़रूरी है कि जिस समय में याने हमारे समय में, हम विचार कर रहे हैं, वह है कैसा?

हमारा समय मनुष्य के इतिहास में संभवत: सबसे हिंसक समय है। इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में सारे संसार में जितनी हिंसा फैली है उतनी बीसवीं सदी के पहले दशक में क़तई नहीं थी और न ही उसके आखिरी दशक में। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट यह बताती है कि बाक़ायदा युद्ध के अलावा, जिसमें अफ़गानिस्तान, मध्यपूर्व और यूरोप के कई देश शामिल हैं, बगावत, सैन्य विद्रोह, सशस्त्र प्रतिरोध आदि को मिलाकर सौ से अधिक गृह युद्ध चल रहे हैं। हमारे देश में ही कश्मीर, उत्तर-पूर्व और नक्सलप्रभावित हिस्से अशांत और लगभग रोज़ाना हिंसा की लपेट में हैं। हमारे समय की एक बड़ी विडंबना यह है कि भूमण्डलीकृत समय सबसे हिंसक समय है। यह हिंसा निरी सैन्य या पुलिस या विद्रोहियों की सशस्त्र हिसां तक सीमित नहीं है। मनोरंजन, फ़ैशन, खेलकूद, मीडिया आदि सभी इन दिनों आक्रामक हो उठे हैं–ये सभी विधाएँ तथाकथित 'किलर इंस्टिक्ट' याने जानमारू भावना से प्रेरित हैं और उसे स्वीकार करने में उन्हें कोई संकोच तक नहीं है। धीरे-धीरे सभी धर्म हिंसा और आक्रामकता की ओर बढ़ते जा रहे हैं। यह बढ़त अब दूसरे धर्मों के प्रति असहिष्णुता और हिंसा तक पहुँच चुकी है। उनमें से ज़्यादातर न सिर्फ़ धार्मिक बहुलता के प्रति बल्कि स्वयं अपनी बहुलता के प्रति, जो सदियों से उनका महत्वपूर्ण पक्ष रही है, असहिष्णु हो चुके हैं। भारत में हिंदुत्व और जिहादी इस्लाम दोनों ही इसके उदाहरण हैं। धर्मों का बहुलता से अपसरण एक बेहद खतरनाक विकास है और इससे समूचे संसार की सांस्कृतिक बहुलता की क्षति हो रही है।

भारतीय समाज में स्त्रियों और दलितों के प्रति हिंसा जगज़ाहिर है। हमें सांप्रदायिक से लेकर आतंकवादी हिंसा का लगातार शिकार होना पड़ रहा है। अपराध, घूसखोरी, चालबाज़ी, धूर्तता और मक्कारी को एक तरह की सामाजिक मान्यता मिलने लगी है। ये सभी हिंसा के प्रकार हैं। सभी जानते हैं कि कितनी बड़ी संख्या में हमारे विधायकों और सांसदों में ऐसे लोग हैं जिनका अपराधों का रिकार्ड है। बाज़ार की बढ़ती हिंसा भी इस क़दर व्यापक हो चुकी है कि हम उसको नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते। धन-दौलत की हिंसा का एक दैनंदिन उदाहरण यह है कि हर दिन कुछ लोग धनाढ्यों या नवधनाढ्यों की तेज़ भागती गाड़ियों से कुचले जाते हैं। दुर्भाग्य से मीडिया हिंसा और अपराध को हमारे ध्यान के केंद्र में लाने की अथक कोशिश करता रहता है।

इस समय संसार हिंसा के अलावा झूठ के आधिपत्य में भी है। थोड़ी अतिशयोक्ति कर कहा जा सकता है कि हमारा समय झूठ की दिग्विजय का समय है। ईराक पर दो महाशक्तियों ने जो सैन्य आक्रमण किया था उसका कारण बताया था कि उस देश के पास व्यापक नाश करने वाले हथियारों का भण्डार है। यह दावा संसार की उन महाशक्तियों के राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री ने किया था। ईराक को तहस-नहस किए और उस पर कब्जा किए इतने बरस हो गये और आज तक एक भी ऐसा हथियार, खुर्दबीन से खोजने के बाद भी नहीं मिला। हमारे यहाँ गुजरात में अल्पसंख्यकों का नरसंहार भी ऐसे ही झूठ बोलकर किया गया। दुखद यह है कि इस नरसंहार के लिए ज़िम्मेदार लोगों को आज तक सज़ा नहीं मिली है - उन पर ठीक से मुकदमे तक नहीं चल पा रहे हैं। अजब तमाशा यह है कि नेता, अभिनेता और खिलाड़ी, जिन्हें हमारे समाज का असली नायक बना दिया गया है, रोज़ झूठ बोलते हैं और उनमें से किसी का बाल भी बाँका नहीं हो पाता। हमारे राष्ट्र का आप्तवाक्य भले 'सत्यमेव जयते' है, पर हर स्तर झूठ ही जीतता नज़र आ रहा है। कुछ ऐसा माहौल बन गया है कि जो झूठ नहीं बोल सकता वह समाज में दयनीय, हास्यास्पद या अप्रासंगिक सा हो रहा है।

कहा जाता है कि अब हम विश्वग्राम में रहते हैं – सही तो यह है कि हम एक विश्वमण्डी में ढकेल दिए गए हैं। यह और बात है कि ऐसे ढकेले जाना हमारा अपना चुनाव भी है। सब कुछ पड़ोस में आ गया है – संचार, संवाद और यातायात के माध्यम इतने बढ़ और तेज़ हो गए हैं कि कोई भी देश किसी देश से दूर नहीं रह गया है। विडंबना यह है कि स्वयं हमारा पड़ोस लगभग ग़ायब हो चुका है। अब हम पड़ोस या मुहल्ले में नहीं कालोनी में रहते हैं और हमें

इसकी खबर तक कई बार नहीं होती कि अगल-बगल कौन रहते या क्या करते हैं। एक दुखद स्मृति यह भी है कि गुजरात के नरसंहार में पड़ोसियों की बड़ी सक्रिय भूमिका थी और उन्होंने ही हत्यारे लागों को जानकारी दी कि कौन सा मकान या दुकान किसी अल्पसंख्यक की थी।

गालिब ने उन्नीसवीं सदी में कहा था – बाज़ीच -ए-अत्फ़ाल है दुनिया मेरे आगे, होता है शब-ओ-रोज़ तमाशा मेरे आगे'। तब वह शायद उतना सच नहीं था जितना कि आज है। सारी दुनिया को तमाशा बनाया जा रहा है और हममें से अधिकांश सिर्फ़ तमाशबीन बनकर रह गए या रह जाएँगे। हम कुछ करेंगे नहीं, सिर्फ़ देखेंगे। यह विश्वव्यापी निरुपायता का भी समय है। जो हो रहा है उसमें शामिल होने या उसे बेचारगी के साथ देखने के अलावा कोई विकल्प नहीं है। यह दावा किया जा रहा है कि विकल्पों का युग बीत चुका–हमारा समय निर्विकल्प समय है। यह निरुपायता हमें सपने देखने से भी रोकती है, विकल्प खोजने से विरत करती है। दुनिया को बदलने और बेहतर करने के कई तरीके हो सकते हैं या होने चाहिए यह बात पीछे ढकेल दी गई है। समता, स्वतन्त्रता और न्याय के जो क्रान्तिकारी मूल्य और लक्ष्य थे उनसे हम अपसरण कर चुके हैं। पुराना वर्गविभाजन भी अब अप्रासंगिक हो गया है क्योंकि नया वर्गविभाजन सिर्फ़ बनाने वाले, बेचने वाले और खरीदने वाले को मान्यता देता है। बाज़ार ने समाज को अपदस्थ कर दिया है। अब तो राजनैतिक दल और सत्ताएँ अपने घोषणापत्रों में निस्संकोच यह लिखते हैं कि वे बाज़ार को क्या सुविधाएँ देंगे - अक्सर ये सुविधाएँ व्यापक समाज को दी जाने वाली सुविधाओं से कहीं अधिक और खर्चीली होती हैं।

उनकी अन्य जो भी उपलब्धियाँ रही हों और वे इतनी कम भी नहीं है, हम एक ऐसे मोड़ पर पहुँच गए हैं कि हम इस दुखद सच्चाई से इन्कार नहीं कर सकते कि अधिक समतामूलक, अधिक स्वतंत्र, अधिक न्यायसंगत, अधिक मानवीय और अधिक शोषणमुक्त दुनिया बनाने में राजनीति, धर्म और विज्ञान सफल नहीं हुए हैं। राजनीति आज प्रबंधन की विधा है और उसका मूल्यों से कोई संबंध नहीं रह गया है। धर्म स्वयं अपने अध्यात्म से विमुख हो चुके हैं। विज्ञान अपने दायित्व-बोध से च्युत हो चुका है। पहले लगता था कि कम से कम हिंदी के संदर्भ में, राज समाज के बजाय अधिक बढ़ रहा है। अब लगता है कि राज और समाज दोनों ही बाज़ार के आगे समान रूप से निरुपाय हो चुके हैं। 'व्यक्ति' और 'समाज' मानवता के दो क्रांतिकारी आविष्कार और अवधारणाएँ रही हैं। वे

भी अब लोप के कगार पर हैं। खान-पान, पहरावे, मनोरंजन, भाषा, मुद्राओं और भंगिमाओं आदि में इस क़दर एकरूपता आ रही है कि लगता है कि सारी राजनैतिक और आर्थिक विभिन्नताओं के बावजूद या कि उनके ऊपर एकसेपन की एक तानाशाही इस समय विश्वव्यापी हो चुकी है। इण्टरनेट आदि के माध्यम से अंग्रेज़ी का एक नया साम्राज्यवाद फल-फूल रहा है और संसार की सैकड़ों मातृभाषाएँ और उनमें निबद्ध जातीय स्मृतियाँ लुप्त होने की ओर बढ़ रही हैं। सेलफ़ोन आदि की सुविधा हो जाने से हम लगातार बहुत बात कर रहे हैं : एक नई संवादरति पैदा हो गई है। लेकिन हममें से अधिकांश इसकी मिसाल भर हैं कि 'बोले तो बहुत लेकिन कहा क्या'। अधिकांश लोग इस बतकही के बावजूद दरअसल बहुत कम शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। यह शब्द-संकोच हमारी सच्चाई पर पकड़ को ढीला कर रहा है। जिसके पास शब्द कम होते हैं उसके पास मानवीयता और दुनिया के अहसास भी कम होते हैं।

इधर चीज़ों का उत्पादन और सुलभता बहुत बढ़ी है। यह बाज़ार का, स्वार्थी सही, उपहार है। हमारे घर, विशेषत: मध्यवर्गीय घर, चीज़ों के गोदाम होते जा रहे हैं। पहले दुनिया विचारों से बदलती है ऐसा माना जाता था। अब यह मान्यता व्याप रही है कि दुनिया चीज़ों की बहुतायत से बदल जाएगी। हमारे सपने तक बहुत हद तक चीज़ों के सपने हो गये हैं। चीज़ें हमें सच्चाई और सपनों दोनों ही राहों से लूटपाट, हड़प और लोभ-लालच की नयी संस्कृति के दायरे में खींच रही है। विचार की उतनी अवमानना जितनी हमारे समय में हो रही है पहले कभी नहीं हुई थी। इतना ही नहीं धीरे-धीरे हमारे जीवन में एकांत की जगह और ज़रूरत कम हो रही है। हम अकेले पड़ जाने से घबराने लगे हैं। हमें अब शायद यह याद भी नहीं आता कि जिन लोगों ने दुनिया को बदलने के सपने देखे, क्रांतिकारी विचार और आविष्कार दिए वे सब अकेले थे—मार्क्स, गांधी, आइन्स्टाइन आदि। एक तरह की विचित्र समाजहीन सामुदायिकता बढ़ रही है और यह प्रार्थना का नहीं बेसुरे कीर्तन का समय है जिसमें अपना सुर मिलाना कई बार हमारी मजबूरी बन रहा है। अब गठबंधन सिर्फ़ राजनीति में ही नहीं है—सत्ता और धर्म, सत्ता और बाज़ार, सत्ता और विज्ञान, सत्ता और मनोरंजन आदि इस समय गठबंधनों की बहुतायत के ही रूप हैं। मुक्तिबोध के शब्द याद करते हुए कहा जा सकता है कि हमारा समय अन्त:करण का आयतन संक्षिप्त होते जाने का समय है। वह ऐसा भी है जिसमें अतिरेक और अतिक्रमण का एक पूरा शास्त्र ही विकसित और लागू किया गया है। मर्यादाओं का अतिक्रमण अब

दैनिक घटना है जिस पर एतराज़ उठाने तक की फुरसत हमारे पास इस तेज़ी से भागते समय में नहीं रह गयी है। सारी अधिकार-चेतना के बावजूद हमारा समय बेजा कब्जे का समय है।

हमारे समय का एक बड़ा अंर्तविरोध यह है कि कहा तो यह जा रहा है और किसी हद तक सही है कि यह सदी एशिया की होने जा रही है जिसमें चीन और भारत की केंद्रीय उपस्थिति और भूमिका होगी। पर सच तो यह भी है कि इस बीच पश्चिम ने अपने को पूरे विश्व में केंद्रीय बना लिया है। इस हद तक कि उसका पंचाग अब विश्व-पंचाग हो गया है और बाक़ी सब पंचाग, जिनसे अब भी भारत में और अन्यत्र लोकजीवन चलता है, पीछे छूट गए रहे हैं। पहले संसार में बहुसमयता थी और अब वह एकसमयता में फँस रहा है। दूसरे, जो एशिया ऊपर रहा है उसका आदर्श अन्ततः पश्चिम ही है। यहाँ राजनैतिक व्यवस्था, सत्ता, बाज़ार, मनोरंजन, शिक्षा आदि सब धीरे-धीरे पश्चिमी ही हो रही हैं या गयी हैं। इसलिए हमारा समय पश्चिमी समय है जबकि, याद करें, बीसवीं सदी का पहला दशक इस क़दर पश्चिमी समय नहीं था।

यह नक़्शा कुछ और आगे बढ़ाया जा सकता है। लेकिन इतना काफ़ी होना चाहिए यह जताने के लिए कि हमारा समय किस तरह की चिंताओं, उलझनों, विडंबनाओं और कठिनाइयों से भरा समय है। यह इतना जटिल भी है कि उसे सामान्यीकृत या सरलीकृत करना कठिन है। यों तो संख्या के मान से पिछली सदी में मनुष्य के ज्ञात इतिहास में सबसे अधिक लोग बेघरबार हुए और यह क्रम पूरी आक्रामकता के साथ चालू सदी में भी चल रहा है। यह तो हुई भूगोल में शरणार्थी होने की दारुणता। पर उससे कम दर्दनाक नहीं हमारा भारत में ज्ञान, विचार, आचार आदि में भी शरणार्थी हो जाना - हम अपने से ही पराये हो चुके हैं। हमने जो समानांतर विधियाँ और सारणियाँ इन क्षेत्रों और अनुशासनों में विन्यस्त और विकसित की थीं उन्हें हमने ही अप्रासंगिक मान लिया है। उनका कोई दबाव या महत्त्व सोच-विचार और जिज्ञासा के क्षेत्रों में दिखाई नहीं देता है—अगर है तो बहुत क्षीण। कई बार तो इसलिए कि पश्चिम ने उसमें कुछ दिलचस्पी दिखाई है।

संक्षेप में कहें कि हमारे समय में राजनीति का विघटन प्रबंधन में, धर्म का उन्माद में, सौंदर्य का ग्लैमर और फैशन में, समाज का बाज़ार में, व्यक्ति का अनुव्यक्ति में, मुक्ति का मुक्त व्यापार में और परंपरा का शाश्वत वर्तमान में हो चुका है। जितना भारत बाज़ारू ढंग से दमक रहा है उतना ही वह असहिष्णुता और हिंसा से भी दमक रहा है। दूसरों के लिए जगह बनाने या देने में हमारा संकोच बढ़ रहा

है। ज्ञान में पश्चिम की कुलीगिरी करने में हमें कोई शर्म का अहसास नहीं होता। स्वयं अपने इतिहास में अब हम शायद सबसे नकलची युग हैं।

इस निराश करने वाले परिदृश्य में हम साहित्य की कुछ जगह खोजने की कोशिश करते हैं। सबसे पहले तो यह कि जैसे राजनीति/धर्म/विज्ञान आदि के अपने-अपने पक्ष हैं वैसे ही साहित्य का भी अपना पक्ष है। जीवन में आस्वाद, रस और आनंद खोजना-बढ़ाना उसका सौंदर्यमूलक पक्ष है। हमें वृहत् और विराट् से जोड़ने और स्पंदित करने का उसका आध्यात्मिक पक्ष है। समता, स्वतंत्रता और न्याय पर ज़िद करने वाला, उनके लिए एक तरह से लगातार सत्याग्रह करनेवाला उसका लोकतांत्रिक पक्ष है। ज्ञान और अनुभव के विखण्डन और विशेषीकरण के बरक़्स उसकी समग्रता और संग्रथन पर आग्रह करनेवाला उसका बौद्धिक पक्ष है। भाषा को उसके विविध रूपों में सक्रिय-सजीव रखने का उसका सामाजिक पक्ष है। साहित्य निष्पक्ष व्यापार नहीं है, न ही वह तटस्थ रहता है—उसकी अपनी पक्षधरता है।

साहित्य जीवन की समग्रता, बहुलता, उसकी अपर्याप्तताओं और अंतर्विरोधों का, उसके अधूरेपन और संपूर्णता की आकांक्षा का उत्सव मनाता है। वह किसी एक आवाज़ या अनुभव या दृष्टि का वर्चस्व स्वीकार नहीं करता। वह कई लेकिन अद्वितीय आवाज़ों द्वारा सच और सचाई की बहुलता पर इसरार करता है। उसका नैतिक अधिकार और आभा इस बात से आते हैं कि वह लगातार अपने पर, अपने माध्यम की अर्थवत्ता पर और अपने सच पर संदेह करता है। हमारे एक कवि अज्ञेय ने, जिनकी जन्मशती इन दिनों मनाई जा रही है, कहा है – मैं सच लिखता हूँ/लिखकर सब झूठा करता जाता हूँ। धर्म या विज्ञान या राजनीति को हमारे समय में ऐसा आत्मसंदेह ग्रस्त करता हो इसका बहुत कम प्रमाण देखने को मिलता है। उलटे उनमें से हरेक यह मानता है कि सच पर उसका न सिर्फ़ मौरूसी हक़ बल्कि एकाधिकार है। साहित्य का सच खुला और वैध्य होता है। बल्कि कई मायनों में अधूरा सच होता है—जब तक पाठक या रसिक उसमें थोड़ा सा अपना सच न मिलाएँ तब तक वह पूरा नहीं होता। साहित्य की इतनी सारी व्याख्याएँ इसी प्रक्रिया के कारण संभव होती हैं। साहित्यिक सच ऐसा सच भी है जो न सिर्फ़ अपने में दूसरे को हिस्सेदार बनाता है बल्कि दूसरे में स्वयं अपना सच रचने- पहचानने का उत्साह भी उपजाता है।

जो अपने ऊपर शक करता है उसे ही यह हक़ है कि वह दूसरों पर शक कर सके। जो अपने को प्रश्नांकित करता है उसे ही यह अधिकार है कि वह

दूसरों को प्रश्नांकित करे। साहित्य वह जगह है जहाँ समाज, राजनीति, धर्म, व्यक्ति, व्यवस्था, मान्यता, नैतिकता आदि सब प्रश्नांकन के घेरे में आते हैं। वह इस समय संसार की सबसे खुली और लोकतांत्रिक प्रश्नभूमि है। ऐसा प्रश्नांकन समाजविज्ञान और दर्शन जैसे गिने-चुने अनुशासनों को छोड़कर बाक़ी से ग़ायब हो चुका है। साहित्य हमें, साथ ही साथ, बार-बार याद दिलाता है कि फ़ैसला मत दो क्योंकि तुम पर भी फ़ैसला दिया जायेगा।' साहित्य का परिसर सहानुभूति का परिसर होता है—निर्णय का बाड़ा नहीं। यह नहीं कि उसे सही-ग़लत की पहचान या समझ नहीं होती। यही कि नैतिक बुद्धि उसे बराबर इस संभावना की ओर उन्मुख रखती है कि हो सकता कि सही का विलोम भी सही हो। वैसे भी आक्सर वाइल्ड ने इसरार किया था कि कलात्मक सच वह है जिसका विलोम भी सच होता है। यह इकहरी और सपाट समझ के बजाय अधिक जटिल समझ का आग्रह है।

हम अक्सर मनुष्यता या समाज को समझने और विश्लेषित करने के लिए कई तरह के वर्गीकरण करते हैं—सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक, विचारधारात्मक आदि। साहित्य इन सबसे परे सकल-समग्र मानवीय की खोज करता है, अपनी उत्कट सघनता, अपनी तात्कालिक और अन्तवर्ती समग्रता में। उसके लिए सब कुछ एक साथ है—मनुष्य, उसका समाज, उसका अर्न्तलोक, उसका ब्रह्मांड। वह अधिकतर विश्लेषण नहीं करता - उसका काम संश्लेषण का है।

जिस समय में हम विराट् सामान्यीकरणों और सरलीकरणों के घटाटोप से घिरे हैं, साहित्य उनका प्रतिरोध करता है। वह उनके विरुद्ध एक तरह की सिविल नाफ़रमानी है। वह हर तरह की तानाशाही का, फिर वह बाज़ार की हो या विचार की, सत्ता की हो या धर्म की, प्रतिरोध है। वह एक ऐसा अनुशासन भी है जो स्वयं अपने सच की कोई सत्ता स्थापित नहीं करता। वह निरंतर अपने को वैध्य रखता है। दूसरी ओर, वह सच की कोई वर्णव्यवस्था भी स्थापित नहीं होने देता। साहित्य में छोटे से छोटे सच को भी खराब न होने दिया जाए इसका जतन किया जाता है। इस अर्थ में वह मनुष्य का सबसे पुराना और टिकाऊ जनतंत्र है कि उसमें ऊँचनीच का कोई भाव नहीं है और एक तरह की अपार सम्यकता और समानता सबको सुलभ है।

साहित्य हमें अकेलेपन का अवसर भी देता है लेकिन ऐसे कि हम दूसरों से कट न जाएँ। वह जिस एकांत में हमें जब-तब ले जाता है उसमें दूसरे कई

बार अपनी अनुपस्थिति से भी उपस्थित रहते हैं। दरअसल हर समय साहित्य की सीधी सी सीख यही है कि हम अकेले नहीं हैं, कि दूसरे हैं और साथ हैं। साहित्य साहचर्य का मामला है—हम हैं क्योंकि दूसरे हैं और हमारी साझा नियति और मुक्ति है। वह हमें यह भी बताता रहता है कि दूसरे भी हम जैसे ही हैं और यह कि दूसरे न होते तो हम भी न होते और हम और दूसरे मिलकर ही यह दुनिया बनाते-बिगाड़ते हैं।

एक स्तर पर साहित्य हमारे क्षीण और शिथिल पड़ते ब्रह्मांड-बोध को भी सक्रिय रखता है—वह जो नहीं दिखता या पकड़ में आता उससे भी हमें जोड़ता और संवाद-रत कराता है। वह हमें, इस तरह भी, सँकरेपन और आत्मरति की जकड़बंदी से मुक्त करता है। हम महसूस कर पाते हैं कि पृथ्वी, आकाश, आकाशगंगाएँ, चंद्र और दिवाकर, सागर और नदियाँ, पक्षीगण, वृक्ष और लताएँ, अग्नि, जल, वायु आदि सब हमारे संसार का ज़रूरी और सुंदर अंग हैं और हमारे होने में इन सबकी निर्णायक भूमिका है। हमें सिर्फ़ हमारा समाज भर नहीं रचता, समूचा ब्रह्मांड उसमें कुछ-न-कुछ योगदान करता है। हम एक तुच्छ घटना नहीं हैं—हम स्वयं ब्रह्माण्ड के लिए आश्चर्य हैं। यह हमारे सीमित भौतिक-मानसिक जीवन को विराट्ता का आयाम देता है। एक ऐसे समय में जब इतनी सारी शक्तियाँ हमारी तुच्छता उजागर करने में जीजान से व्यस्त हैं, साहित्य उनसे बिलकुल अलग कुछ उदात्त करता है।

साहित्य सदियों से मनुष्य की स्वप्नभूमि रहा है। मंगल और विराट् के, उदात्त और विशाल के अनेक सपने सबसे पहले साहित्य में ही देखे गए थे—हमारे वेदों और महाकाव्यों में इसका विपुल साक्ष्य मिलता है। हमारे स्वप्नहीन समय में इसका एहतराम करते हुए कि दुर्भाग्य से मनुष्य की अपनी करतूतों की वजह से अनेक महान् स्वप्न इतिहास के धूरे पर पड़े हैं या दु:स्वप्नों में बदल गए हैं, साहित्य इस स्वप्न का दबाव आज दृश्य पर बनाए हुए है कि हम विकल्पहीन नहीं हैं, कि दुनिया बदली और बेहतर की जा सकती है, कि एक ही दृष्टि या विचार या व्यवस्था का वर्चस्व अनिवार्य नहीं है। यह दावा बिना हिचक किया जा सकता है कि साहित्य इस समय उन थोड़ी सी जगहों में बना है जिनमें सच, विचार और अनुभव की बहुलता और विशिष्टता का सहज सम्मान और विन्यास होता है। शायद यही कारण है कि साहित्य के सच बासी नहीं पड़ते और कालांतर में अतिक्रमित नहीं होते जैसे कि उदाहरण के लिए विज्ञान आदि के होते रहते हैं।

साहित्य किसी को नहीं बख्शता, न अपने को, न देवताओं और दुष्टों को, न संतों और धूर्तों को, न नायकों-अधिनायकों-खलनायकों को। यहाँ तक कि वह सब और सुन्दरता पर न्याय की ओर से चौकसी करता है। उसके लिए, कम से कम अब, स्वतंत्रता-समता-न्याय की मूल्यत्रयी ऐसी है कि उस पर किसी तरह समझौता करने को वह तैयार नहीं। राजनीति प्राय: इन मूल्यों में से किसी की बलि दूसरे बचे मूल्यों के लिए दे सकती है पर साहित्य में यह संभव नहीं होता। इसीलिए साहित्य हमारे समय का अन्त:करण भी है—उसमें जो स्वतंत्रता को बाधित करता है, समता के विरूद्ध जाता है और न्याय से समंजस नहीं है उसके विरुद्ध लगातार आवाज़ उठती रहती है। यह आकस्मिक नहीं है कि साहित्य में शोषित-दलित और शोषण और अन्याय के शिकार लोगों को बराबर जगह दी जाती रही है। जो समाज में नहीं बोल पाते वे साहित्य में मुखर हो सकते हैं। जिसके पास आवाज़ नहीं है या कि उसके लिए अवकाश नहीं है, साहित्य उसे आवाज़ देता है। साहित्य की अदालत में सिर्फ़ आत्माभियोग की इज़ाज़त होती है - आप दूसरों पर दोज़ारोपण नहीं कर सकते, सिर्फ़ अपनी ज़िम्मेदारी-भागीदारी का हलफ़ भर उठा सकते हैं।

भाषाएँ मनुष्य की समृद्ध विरासत का बड़ा मूल्यवान हिस्सा है। उनमें हमारी जातीय स्मृतियाँ निबद्ध हैं। उनका संकट में पड़ना हमारी स्मृति के शिथिल पड़ने के बराबर है। साहित्य भाषाओं की इस धनी बहुलता को सक्रिय सजीव रखता है। वह समाजों को स्मृतिहीन और शब्द-संकोच-ग्रस्त होने से बचाता और भाषाओं को उनकी सूक्ष्मता, संवेदनशीलता, कल्पनामयता, जटिलता और विविधता में सक्रिय रखता है। यह उसका सबसे बड़ा सामाजिक कर्तव्य और योगदान है। दुनिया की सांस्कृतिक विविधता के लिए भाषाओं की सजीव उपस्थिति और सक्रियता बहुत महत्वपूर्ण तत्व है। दुनिया की हज़ारों मातृभाषाओं को बचाने के लिए वैसे ही विश्व-अभियान की ज़रूरत है जैसे कि पर्यावरण के लिए संभव हुआ है।

जो साधारण है, आर्थिक दृष्टि से विपन्न और असमर्थ है उसे राजनीति, बाज़ार के दुरातंक में, हाशिये पर खिसकाती जाती है। लेकिन साहित्य में साधारण की महिमा है। पिछली एक सदी का हिंदी साहित्य ऐसी ही महिमा की प्रतिष्ठा का साहित्य रहा है। यह नहीं कि उसने उस महिमा का सिर्फ़ मण्डन किया है: वह जानता है कि उसके लिए विकट संघर्ष ज़रूरी है। साहित्य ने यह संघर्ष हमारे यहाँ भक्तिकाल से लेकर आज तक किया है और उसी का नतीजा है कि

साधारण आज साहित्य के केंद्र में है। साहित्य हमें अपनी साधारण ज़िंदगी के आशय, अंतर्ध्वनियाँ और महत्त्व समझने में मदद करता है। वह साधारण की गरिमा का भी उद्घाटन करता है। उसके संघर्ष, उसके अंतर्विरोधों और विडंबनाओं का भी। आज जब राजनीति, बाज़ार, मीडिया, बाज़ार आदि सभी साधारण को दबाने-बरकाने और हाशिये पर फेंकने पर आमादा हैं, साधारण का लगभग एकमात्र शरण्य साहित्य है। यह उसका असली राजनैतिक रोल है। बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि आज साहित्य बाज़ारू राजनीति का असली और साहसिक प्रतिपक्ष है।

यह कहा जा सकता है कि आज साहित्य प्रतिरोध की रंगभूमि; निजता और सामाजिकता के बचे रहने की कल्पनाभूमि; विचार को बहिष्कृत करने, प्रबंधन को सब कुछ मानने की व्यवस्था के विरूद्ध रणभूमि; निरंतरता का आकाश; परिवर्तन की वसुन्धरा; मानवीय नियति; सफलता-समग्रता, स्थानीयता के साथ सार्वभौमिकता की प्रश्न भूमि; मनुष्य के संसार, समाज, प्रकृति, ब्रह्मांड के अटूट संबंध की बोधभूमि, मनुष्यता की असमाप्य बहुलता की जयभूमि; कलियुग में आत्म की धर्मभूमि है। वह मनुष्य की चरम जिज्ञासाओं का अन्तिम अरण्य है।

हम सभी, याने वे जो साहित्य पढ़ते-गुनते हैं और जिन्हें ज़िंदगी के आपाधापी से अभी भी फ़ुरसत और समय है जानते हैं कि साहित्य हमें अपने आप में रहने देकर भी दूसरा बनाता है। जिन्हें हम क़तई नहीं जानते उनके लिए हम आँसू बहाते हैं। साहित्य सिर्फ़ दूर से, किसी रामभरोसे से टुकुर-टुकुर नहीं देखता : वह 'कबीरा खड़ा बाज़ार में' के अनुरूप बीचों-बीच खड़ा होता है - हमारे साथ। वह बार-बार हमें जताता है कि मानवता एक शामिलात खाता है और जो कुछ होता है हम उसके लिए ज़िम्मेदार हैं—हम अपने लिए तो ज़िम्मेदार हैं ही दूसरों के लिए भी हमारी ज़िम्मेदारी है। वह हमारे छोटे-छोटे अकिंचन सचों को सहेजता है और उन्हें किसी बड़े सच का गुटका या संस्करण बनने या उसमें उनके विलीन हो जाने का प्रतिरोध करता है। मानवीय संबंध हर समय बदलते रहते हैं। हमारे समय में इस बदलाव में तेज़ी आई है। साहित्य अक्सर इन तब्दीलियों का सबसे पहला रजिस्टर होता है। दर्ज़ करने के साथ-साथ वह हमें यह अहसास भी दिलाता है कि सारे बदलाव के बाद भी मनुष्यता के कुछ तत्व हैं जो समयातीत हैं—जैसे प्रेम, करुणा, त्याग, सहानुभूति, सहयोग आदि। साहित्य की बुनियादी नैतिक संवेदना में परिवर्तन के प्रति खुलापन होता है लेकिन वह उसके नैतिक स्थायित्व का दबाव भी बनाए रखता है।

समाज में और मनुष्य के स्वाभाविक प्राकृतिक पर्यावरण में ऐसा बहुत कुछ है और होता रहता है जो खुद बोल नहीं सकता। साहित्य यह ज़िम्मेदारी सदियों से निभा रहा है कि वह इन सभी को वाणी देता है। उसका एक ज़रूरी काम हर समय अलक्षित और अविवक्षित को लक्षित और विवक्षा के दायरे में लाना है। साहित्य के भूगोल में मानवीय संबंध सिर्फ़ मनुष्यों तक महदूद नहीं रहते: वहाँ मनुष्य सिर्फ़ मनुष्य से नही, प्रकृति से, पदार्थों और विचारों से, पूर्वजों और देवताओं से, संसार और ब्रह्मांड से जुड़ता, प्रतिकृत होता और संवाद करता है।

साहित्य को दूसरा इतिहास यों ही नहीं कहा गया है। अरसे से इतिहास युद्ध और शांति, विजय और पराजय, राजवंश और सैन्य तथा आर्थिक शक्तियों की उथल-पुथल की गाथा रहा है। इधर उसमें कुछ परिवर्तन आया है—अब लोगों का, नीचे से इतिहास लिखा जाने लगा है हालाँकि विडंबना यह है कि उसको अधिकांश लोगों की भाषाओं में नहीं लिखा-पढ़ा जाता। जो इतिहास से छूट जाता है, उसका जीवंत अनुभव और उत्कृट स्मृति साहित्य में ही सुरक्षित रह पाती है। यह अकारण नहीं है कि जब किसी काल का इतिहास लिखा जाता है और उसमें पर्याप्त पुरातात्विक साक्ष्य नहीं मिलता तो इतिहासकार अन्य स्रोतों की ओर मुड़ते हैं और इनमें एक अनिवार्यत: तत्कालीन साहित्य होता है। यह इसलिए भी कि साहित्य के लिए हमेशा सारी मानवता ही विषय होती है। वह, बिना ऐसा दावा किए, मनुष्यता का दूसरा इतिहास होता है।

अपने आदर्श रूप में साहित्य दूसरों के विचारों का उपनिवेश होने के बजाय अपनी अलग वैचारिक सत्ता रखता है। वह दूसरे क्षेत्रों और अनुशासनों में विकसित विचारों को हिसाब में लेता है, उनसे संवाद और मुठभेड़ करता है और उनमें से जो उसे काम का लगे उसे अपनाता भी है। लेकिन वह स्वयं अपनी वैचारिक दृष्टि अर्जित और प्रस्तुत करता है।

जो लोग अपने जीवन से, दी गयी दुनिया और व्यवस्था से, उन परिवर्तनों से, जो उन पर लाद दिये गए हैं और जिनमें उनकी कोई हिस्सेदारी नहीं रही है, संतुष्ट हैं, साहित्य निश्चय ही उनके किसी काम का नहीं है। जिन्हें लगता है कि दुनिया में कुछ खास-फेर बदल नहीं किया जा सकता और अंतत: मानवीय व्यर्थ हो जाने का अभिशप्त है, साहित्य उनके भी काम का नहीं हो सकता। जिन्हें यह यक़ीन है कि उनके पास सच और सब कुछ है और जिन्हें कोई अभाव नहीं सालता साहित्य को उनसे भी कुछ कहना नहीं हो सकता। इनके बरक़्स जो लोग असंतुष्ट हैं, जिन्हें आत्मा और अन्त:करण के कई अभाव और भूलें सालते हैं,

जो बदलाव और विकल्प की संभावना देख पाते हैं, जिन्हें लगता है कि भाषा पर बेहतर पकड़ उन्हें अधिक सघन-सटीक मनुष्य बनाती है, साहित्य उनको संबोधित है, उन्हें कुछ शक्ति और सेहत, ऊर्जा और बेचैनी, सपने और उत्सुकताएँ दे सकता है। आध्यात्मिक और बौद्धिक रूप से निठल्लों के लिए साहित्य किसी तरह का रामबाण नहीं हो सकता। साहित्य घावों पर मरहम लगा सकता है पर उन्हीं के जिन्हें इसकी पहचान हो कि औरों के भी ज़्यादा गहरे घाव हैं, कि हम सभी कभी न कभी एक दूसरे को आहत करते हैं, कि घाव हमारी जिजीविषा से भरते हैं, दवा-दारू से नहीं, भले उनसे फ़ौरी तौर पर कुछ राहत मिल जाती हो।

साहित्य मूलतः संसार के प्रति अनुराग से उपजता है। उसका मुख्य प्रभाव हममें इस अनुराग को अधिक गहरा और उत्कट, सार्थक और सूक्ष्म करना होता है। साहित्य हमें सिखाता है कि यह संसार सुंदर है, कि उसे सुंदरतर किया जा सकता है, कि उसकी सुन्दरता में हम सबका बराबरी का हिस्सा है, कि अगर वह हिस्सा हमें नहीं मिल पाया है तो हमें उसकी माँग और कोशिश करना चाहिए, कि सारे सच कल्पना-प्रसूत होते हैं, कि सच होने के लिए पहले सपना होना चाहिए, कि मनुष्य की नियति मनुष्य के हाथ में है, कि हम सबमें हैं और सब हममे हैं और फिर भी हम अकेले हैं, कि हमें एकान्त और सामुदायिकता दोनों चाहिए, कि स्वतंत्रता-समता-न्याय के बिना मानवता कभी संपूर्ण नहीं हो सकती, कि हम भले आधे-अधूरे हैं मनुष्य होने के नाते हम सम्पूर्णता की आकांक्षा करते हैं, कि अगर हमारी आँखों में आँसू आते हैं तो सहस्रों प्रकाशवर्ष दूर किसी नक्षत्र की आँखें भी पसीज उठती हैं, कि सब कुछ हमारे बस में नहीं है लेकिन बहुत कुछ फिर भी है, कि हमारी प्रश्नवाचकता और उत्सवधर्मिता परस्पर विरोधी नहीं है, कि न सिर्फ़ संसार को समझने-बदलने की एक दृष्टि नहीं बल्कि कई दृष्टियाँ हैं, ऐसा ही होना चाहिए। हमें साहित्य चाहिए क्योंकि हमें अपने सांसारिक अनुराग को टिकाऊ, हितकारी और दीर्घकालीन बनाना है। साहित्य के परिसर में हम अधिक देखते, अधिक सुनते, अधिक महसूस करते, अधिक समझते-गुनते हैं। साहित्य में हम अधिक हम होते हैं।

वक्ता के बारे में

अशोक वाजपेयी हिंदी कवि-आलोचक, अनुवादक, संपादक तथा भारत की एक बड़ी सांस्कृतिक उपस्थिति है। कविता की 13 पुस्तकों, आलोचना की 7 पुस्तकों और अंग्रेज़ी में कला पर 3 पुस्तकों सहित उन्हें संस्कृति में नवोन्मेषी संस्था-निर्माता के रूप में जाना जाता है। उन्होंने भारतीय और विदेशी संस्कृतियों के मध्य परस्पर जागरूकता और आपसी संवाद को बढ़ाने के लिए अथक प्रयास किया है। अपने काव्य में उन्होंने प्रेम, घर, प्रकृति, कलाओं, नश्वरता आदि पर ज्यादा ज़ोर दिया है और एक आलोचक के रूप में उन्होंने साहित्य के चिरस्थायी मूल्यों, नैतिक दायित्वों और आत्म-प्रश्नात्मकता पर बल दिया है। इस विचार का समर्थन करते हुए कि साहित्य, सच्चाइयों और कल्पना का जनतंत्र प्रस्तुत करता है, उन्होंने महत्वपूर्ण राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय परिसंवादों, संगोष्ठियों और काव्य-उत्सवों में विचारधाराओं, बाज़ारवाद और बुनियादपरस्ती की समकालीन तानाशाही के विरुद्ध साहित्य की स्वायत्तता के लिए आवाज़ उठाई है। कई प्रतिष्ठित पत्रिकाओं के सम्पादक के रूप में उन्होंने कविता और आलोचना में युवा प्रतिभाओं और समकालीन तथा शास्त्रीय कलाओं की आलोचनात्मक जागरूकता का प्रसार करने के लिए अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। वे साहित्य, संगीत, नृत्य, नाटक, दृश्यकलाओं, लोक एवं जनजातीय कलाओं, सिनेमा आदि से संबंधित हज़ारों कार्यक्रमों के आयोजक रहे हैं। उन्हें साहित्य अकादेमी पुरस्कार, दयावती कवि शेखर सम्मान और कबीर सम्मान प्रदान किए गए हैं। उनके आठ काव्य संकलनों के अनुवाद अंग्रेज़ी, फ्रान्सीसी, पोलिश, उर्दू, बांग्ला, गुजराती, मराठी और राजस्थानी में हुए हैं।

उन्होंने पेरिस में बसे भारतीय कला मूर्धन्य सैयद हैदर रज़ा पर दो बड़ी पुस्तकें लिखी हैं और 7 अमूर्त समकालीन भारतीय कलाकारों पर भी एक पुस्तक लिखी है। उनके द्वारा भोपाल में बहुकला केंद्र के रूप में विख्यात भारत भवन स्थापित किया गया और एक दशक तक संचालित भी हुआ। महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (भारत सरकार द्वारा स्थापित) के पहले

कुलपति रह चुके श्री वाजपेयी एक वर्ष से भी अधिक समय के लिए राष्ट्रीय संग्रहालय के कार्यवाहक महानिदेशक और राष्ट्रीय मानव संग्रहालय, भोपाल के उपाध्यक्ष रहे हैं।

भारत के एक विशिष्ट बुद्धिजीवी श्री वाजपेयी एक सृजनात्मक विश्व-पर्यटक हैं, जिन्होंने सम्मेलनों में भाग लेने, व्याख्यान देने के क्रम में कई बार यूरोप आदि का भ्रमण किया है। उन्होंने पोलैण्ड के चार प्रमुख कवियों, चेस्लाव, मीवोष, डब्लयू षिम्बोंस्का, ज़्बीग्न्येव हबेर्त और तादेऊष रूजेविच की कृतियों का हिंदी अनुवाद किया है। वह जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय में अतिथि लेखक और के.के. बिरला फाउण्डेशन के फ़ेलो भी रह चुके हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा से निवृत्त होने के बाद वह दिल्ली में रह रहे हैं। उन्हें पोलैण्ड गणराज्य के राष्ट्रपति द्वारा और फ्रांसीसी सरकार द्वारा अपने उच्च सिविल सम्मानों से विभूषित किया गया है।

श्री वाजपेयी इन दिनों ललित कला अकादेमी (राष्ट्रीय कला संस्थान, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली) के अध्यक्ष हैं।

अनुलग्नक I

स्मृति व्याख्यान माला – 2007-08

क्र. स.	नाम	तारीख	स्थान	वक्ता	विषयवस्तु	अध्यक्ष
1.	महात्मा गाँधी स्मृति व्याख्यान	17 जनवरी, 2007	इंडिया इंटरनेशनल सेंटर, नयी दिल्ली	प्रोफ़ेसर क्रिस्टोफर विंच शैक्षिक मनोविज्ञान एवं योजना किंग्स कॉलेज, लंदन (यू. के.)	व्यक्ति, कामगार या नागरिक? विद्यालय आधारित शैक्षिक सुधार की सीमाओं पर विचार	प्रोफ़ेसर मृणाल मिरि सेवानिवृत्त वाइस चांसलर एन.ई.एच.यू., शिलांग
2.	ज़ाकिर हुसैन स्मृति व्याख्यान	19 जनवरी, 2007	क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान मैसूर	डा. राधिका हर्ज़बर्गर निदेशक, ऋषिवैली स्कूल, चित्तूर, आंध्र प्रदेश	धर्म, शिक्षा और शांति	प्रोफ़ेसर बी.एल.चौधरी वी.सी मोहनलाल सुखड़िया युनीवर्सिटी, उदयपुर, राजस्थान
3.	महादेवी वर्मा स्मृति व्याख्यान	17 अगस्त, 2007	क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान भोपाल	प्रोफ़ेसर करुणा चानना सेवानिवृत्त प्रोफ़ेसर ज़ाकिर हुसैन सेंटर फॉर ऐजुकेशनल स्टडीज़, स्कूल ऑफ सोशल साइंसेस, जे.एन.यू.	भारतीय शिक्षा जगत में महिलाएँ–एक प्रतिस्पर्धी क्षेत्र में विविधता, विभिन्नता और असमानता	प्रोफ़ेसर आर.एस.सिरोही वाइस चांसलर बरकतुल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल
4.	बी.एम. पुग स्मृति व्याख्यान	11 मार्च, 2008	लैतुमखरह वुमेन्स कॉलेज, शिलांग	श्री रतन थियाम चेयरपर्सन कोरस रेपरटरी थियेटर, शिलांग	रंगमंच, भाषा एवं अभिव्यक्ति	प्रोफ़ेसर टी. एओ डीन स्कूल ऑफ ह्यूमेनिटीज़ एन.ई.एच.यू., शिलांग
5.	मार्जरी साइकस स्मृति व्याख्यान	8 अप्रैल, 2008	जवाहर रंग मंच क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान अजमेर	सुश्री मेधा पाटकर (सामाजिक कार्यकर्त्ता)	समाजीकरण बनाम शिक्षा की राजनीति	प्रोफ़ेसर एम. एस. अगवानी सेवानिवृत्त वाइस चांसलर, जे.एन.यू.

6.	श्री अरविन्द स्मृति व्याख्यान	2 जुलाई, 2008	डोरोज़ियो हाल प्रेसिडेंसी कॉलेज कोलकाता	श्री मोहनदास इंटरनेशनल सेंटर ऑफ एजुकेशन श्री अरविंद आश्रम पाण्डिचेरी	शिक्षा जो भविष्य में आस्था जगाए	प्रोफ़ेसर संजीव घोष प्रिंसिपल, प्रेसिडेंसी कॉलेज कोलकाता
7.	रविन्द्र नाथ टैगोर स्मृति व्याख्यान	19 जुलाई, 2008	क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान, भुवनेश्वर	प्रोफ़ेसर एन.आर.मेनन सदस्य कमीशन ऑन सेंटर स्टेट रिलेशंस	स्थिति एवं अवसर की समानता का अहसास–सरकार की भूमिका, न्यायपालिका और नागरिक समाज की भूमिका	प्रोफ़ेसर चन्द्रशेखर रथ प्रतिष्ठित लेखक
8.	गिजुभाई बढ़ेका स्मृति व्याख्यान	11 सितंबर 2008 (वक्ता की बीमारी के कारण स्थगित)	क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान मैसूर	श्री यू. आर. अनंथमूर्ति ज्ञानपीठ पुरस्कृत	मेरा लेखन मेरा समय	प्रोफ़ेसर जी.एच. नायक कन्नड साहित्यिक आलोचक
9.	सावित्रीबाई फूले स्मृति व्याख्यान	12 दिसंबर, 2008	मानीबेन नानावती महिला कॉलेज, मुंबई	डॉ. सुंदररमन निदेशक स्टेट हैल्थ रिसोर्स सेंटर	निवारणात्मक और प्रोत्साहनकारी स्वास्थ्य केंद्र के रूप में विद्यालय	डॉ. सुश्री विभूति पटेल, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, निदेशक पी.जी.एस.के., एस.एन.डी.टी. महिला विश्वविद्यालय, मुंबई

अनुलग्नक II

स्मृति व्याख्यान माला – 2008-09

क्र. स.	नाम	तारीख	स्थान	वक्ता	विषयवस्तु	अध्यक्ष
1.	महात्मा गाँधी स्मृति व्याख्यान	28 जनवरी, 2009	इंडिया इंटरनेशनल सेंटर, नयी दिल्ली	श्री अनुपम मिश्रा गाँधी पीस फाउंडेशन दिल्ली	राज, समाज और पानी	प्रोफ़ेसर एम.एच. कुरैशी भूतपूर्व प्रोफ़ेसर, एन.ई.एच.यू., शिलांग
2.	ज़ाकिर हुसैन स्मृति व्याख्यान	30 जनवरी, 2009	क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान मैसूर	प्रोफ़ेसर पदमिनी निदेशक, ऋषिवैली स्कूल, चित्तूर, आंध्र प्रदेश	लिटरेसी एवं लेवलस ऑफ फ़ार्मल (जनरल एंड प्रोफेशनल) एजूकेशन ऑफ़ द इंडियन : अ नेशनल रिपोर्ट कार्ड।	प्रोफ़ेसर बी. शोक अली भूतपूर्व वाइस चांसलर मेंगलोर एवं गोवा विश्वविद्यालय
3.	महादेवी वर्मा स्मृति व्याख्यान	5 जनवरी, 2009	क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान भोपाल	सुश्री कल्पना शर्मा भूतपूर्व हुसैन सेंटर फॉर ऐजुकेशनल स्टडीज़, स्कूल ऑफ सोशल साइंसेस, जे.एन.यू.	केन मीडिया टीच अस एनीथिंग	प्रोफ़ेसर आर.एस.सिरोही वाइस चांसलर बरकतुल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल
4.	बी.एम. पुग स्मृति व्याख्यान	27 मार्च, 2009	डॉन बोसको यूथ सेंटर, शिलांग	श्री पी. सांइनाथ रूलर अफेयर एडिटर द हिन्दू, मुम्बई	इंडिया इन द एज ऑफ एनएक्यूलिटी : फार्म क्राइसिस फूड क्राइसिस एंड द मीडिया	सुश्री पारसीटिया मुखीम एडीटर, शिलांग टाइम्स

5.	मार्जरी साइकस स्मृति व्याख्यान	28 अक्टूबर, 2009	क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान अजमेर	प्रोफ़ेसर कमल दत्ता भूतपूर्व प्रोफेसर, डिपार्टमेंट ऑफ फिजिक्स दिल्ली यूनीवर्सिटी	वॉट शुड वी टीच? एन एक्ज़ामिनेशन ऑफ इश्यूज़ अंडरलाइंग द कॉलेज करीकुलम	प्रोफ़ेसर भागीरथ सिंह वाइस-चांसलर एम.डी.एस. यूनीवर्सिटी अजमेर
6.	श्री अरविन्द स्मृति व्याख्यान	27 मार्च, 2009	प्रेसिडेंसी कॉलेज कोलकाता	प्रोफ़ेसर जशोधरा बागची प्रोफ़ेसर जाधवपुर यूनीवर्सिटी	शिक्षा जो भविष्य में आस्था जगाए	प्रोफ़ेसर संजीव घोष प्रिंसिपल, प्रेसिडेंसी कॉलेज कोलकाता
7.	रविन्द्र नाथ टैगोर स्मृति व्याख्यान	14 जनवरी, 2009	क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान, भुवनेश्वर	प्रोफ़ेसर स्वपन मजूमदार डायरेक्टर, कल्चर एंड रिलेशन्स विश्व भारती	एजूकेशन एज़ एम्पावरमेंट इन सर्च ऑफ एन अल्टरनेटिव एजूकेशन	प्रोफ़ेसर शान्तनु कुमार आचार्य एमिनेन्ट राइटर
8.	गिजुभाई बढ़ेका स्मृति व्याख्यान	20 जनवरी 2009	एम.आई.डी.एस. चैन्नई	प्रोफ़ेसर टी.एस. सरस्वती भूतपूर्व प्रोफ़ेसर, महाराजा शिवाजी राव यूनीवर्सिटी बड़ोदा	कल्चर एंड डेवलपमेंट इम्पलीकेशन फॉर क्लासरूम प्रेक्टिस	प्रोफ़ेसर एस.जनकराजन निदेशक, मद्रास इंस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज़
9.	सावित्रीबाई फूले स्मृति व्याख्यान	29 जनवरी, 2009	एस.एन.डी.टी. महिला कॉलेज, मुंबई	प्रोफ़ेसर शर्मिला रेगे निदेशक, क्रातिज्योति सावित्रीबाई फुले विमन्स स्टडी सेंटर, यूनीवर्सिटी ऑफ पूणे	एजूकेशन एज़ तृतीय रत्ना : टूवर्डस फुले अंबेडकराइट फेमिनिस्ट पेडागोजीज़	प्रोफ़ेसर चन्द्रा कृष्णामूर्ति वाइस-चांसलर एस.एन.डी.टी. वीमन्स यूनीवर्सिटी

अनुलग्नक III

स्मृति व्याख्यान माला – 2009-10

क्र. स.	नाम	तारीख	स्थान	वक्ता	विषयवस्तु	अध्यक्ष
1.	महात्मा गाँधी स्मृति व्याख्यान	9 फरवरी, 2010	इंडिया इंटरनेशनल सेंटर, नयी दिल्ली	श्री जतिन दास चेयरमैन, जे.डी. सेंटर ऑफ आर्ट	आर्ट एट होम, स्कूल, यूनीवर्सिटी एंड इन पब्लिक लाइफ	श्री अशोक वाजपेयी चेयरपर्सन, ललित कला अकादमी, दिल्ली
2.	ज़ाकिर हुसैन स्मृति व्याख्यान *					
3.	महादेवी वर्मा स्मृति व्याख्यान	11 फरवरी, 2010	क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान भोपाल	सुश्री अरविंद गुप्ता	सांइस थ्रू एक्टीविटीज़	डॉ. एम.एन. बुच आई.ए.एस (रिटायर्ड) चेयरमैन नेशनल सेंटर फॉर हॅयूमन सैटलमेंटर एंड एनवायरनमेंट, भोपाल
4.	बी.एम. पुग स्मृति व्याख्यान	9 अक्टूबर, 2009	एन.ई.सी.ए. नोनग्रिम हिल्स, शिलांग	प्रोफ़ेसर नंदिनी सुंदर प्रोफ़ेसर ऑफ सोशियोलॉजी दिल्ली स्कूल ऑफ इक्नॉमिक्स, दिल्ली यूनीवर्सिटी	इंडिया इन द एज ऑफ एनएक्यूलिटी : फार्म क्राइसिस फूड क्राइसिस एंड द मीडिया	सुश्री पारसीटिया मुखीम एडीटर, शिलांग टाइम्स
5.	मार्जरी साइकस स्मृति व्याख्यान *					
6.	श्री अरविन्द स्मृति व्याख्यान *					
7.	रविन्द्र नाथ टैगोर स्मृति व्याख्यान *					
8.	गिजुभाई बढ़ेका स्मृति व्याख्यान *					
9.	सावित्रीबाई फूले स्मृति व्याख्यान *					

* लेक्चर की तिथि अभी निश्चित नहीं की गई है।